

कर्मभूमि

प्रेमचंद

हमारे स्कूलों और कॉलेजों में जिस तत्परता से फीस वसूल की जाती है, शायद मालगुजारी भी उतनी सख्ती से नहीं वसूल की जाती। महीने में एक दिन नियत कर दिया जाता है। उस दिन फीस का दाखिला होना अनिवार्य है। या तो फीस दीजिए, या नाम कटवाइए, या जब तक फीस न दाखिल हो, रोज कुछ जुर्माना दीजिए। कहीं-कहीं ऐसा भी नियम है कि उसी दिन फीस दुगुनी कर दी जाती है, और किसी दूसरी तारीख को दुगुनी फीस न दी तो नाम कट जाता है। काशी के क्वीन्स कॉलेज में यही नियम था। सातवीं तारीख को फीस न दो, तो इक्कीसवीं तारीख को दुगुनी फीस देनी पड़ती थी, या नाम कट जाता था। ऐसे कठोर नियमों का उद्देश्य इसके सिवा और क्या हो सकता था, कि गरीबों के लड़के स्कूल छोड़कर भाग जाएं- वही हृदयहीन दफ्तरी शासन, जो अन्य विभागों में है, हमारे शिक्षालयों में भी है। वह किसी के साथ रियायत नहीं करता। चाहे जहां से लाओ, कर्ज लो, गहने गिरवी रखो, लोटा-थाली बेचो, चोरी करो, मगर फीस जरूर दो, नहीं दूनी फीस देनी पड़ेगी, या नाम कट जाएगा। जमीन और जायदाद के कर वसूल करने में भी कुछ रियायत की जाती है। हमारे शिक्षालयों में नर्मी को घुसने ही नहीं दिया जाता। वहां स्थायी रूप से मार्शल-लाॅ का व्यवहार होता है। कचहरी में पैसे का राज है, हमारे स्कूलों में भी पैसे का राज है, उससे कहीं कठोर, कहीं निर्दय। देर में आइए तो जुर्माना न आइए तो जुर्माना सबक न याद हो तो जुर्माना किताबें न खरीद सकिए तो जुर्माना कोई अपराध हो जाए तो जुर्माना शिक्षालय क्या है, जुर्मानालय है। यही हमारी पश्चिमी शिक्षा का आदर्श है, जिसकी तारीफों के पुल बांधे जाते हैं। यदि ऐसे शिक्षालयों से पैसे पर जान देने वाले, पैसे के लिए गरीबों का गला काटने वाले, पैसे के लिए अपनी आत्मा बेच देने वाले छात्र निकलते हैं, तो आश्चर्य क्या है-

आज वही वसूली की तारीख है। अध्यापकों की मेजों पर रुपयों के ढेर लगे हैं। चारों तरफ खनाखन की आवाजें आ रही हैं। सराफे में भी रुपये की ऐसी झंकार कम सुनाई देती है। हरेक मास्टर तहसील का चपरासी बना बैठा हुआ है। जिस लड़के का नाम पुकारा जाता है, वह अध्यापक के सामने आता है, फीस देता है और अपनी जगह पर आ बैठता है। मार्च का महीना है। इसी महीने में अप्रैल, मई और जून की फीस भी वसूल की जा रही है। इम्तहान की फीस भी ली जा रही है। दसवें दर्जे में तो एक-एक लड़के को चालीस रुपये देने पड़ रहे हैं।

अध्यापक ने बीसवें लड़के का नाम पुकारा-अमरकान्त

अमरकान्त गैरहाजिर था।

अध्यापक ने पूछा-क्या अमरकान्त नहीं आया?

एक लड़के ने कहा-आए तो थे, शायद बाहर चले गए हों।

'क्या फीस नहीं लाया है?'

किसी लड़के ने जवाब नहीं दिया।

अध्यापक की मुद्रा पर खेद की रेखा झलक पड़ी। अमरकान्त अच्छे लड़कों में था। बोले-शायद फीस लाने गया होगा। इस घंटे में न आया, तो दूनी फीस देनी पड़ेगी। मेरा क्या अख्तियार है- दूसरा लड़का चले-
गोवर्धनदास

सहसा एक लड़के ने पूछा-अगर आपकी इजाजत हो, तो मैं बाहर जाकर देखूं?

अध्यापक ने मुस्कराकर कहा-घर की याद आई होगी। खैर, जाओ मगर दस मिनट के अंदर आ जाना।

लडकों को बुला-बुलाकर फीस लेना मेरा काम नहीं है।

लड़के ने नम्रता से कहा-अभी आता हूं। कसम ले लीजिए, जो हाते के बाहर जाऊं।

यह इस कक्षा के संपन्न लड़कों में था, बड़ा खिलाड़ी, बड़ा बैठकबाज। हाजिरी देकर गायब हो जाता, तो शाम की खबर लाता। हर महीने फीस की दूनी रकम जुर्माना दिया करता था। गोरे रंग का, लंबा, छरहरा शौकीन युवक था। जिसके प्राण खेल में बसते थे। नाम था मोहम्मद सलीम।

सलीम और अमरकान्त दोनों पास-पास बैठते थे। सलीम को हिसाब लगाने या तर्जुमा करने में अमरकान्त से विशेष सहायता मिलती थी। उसकी कापी से नकल कर लिया करता था। इससे दोनों में दोस्ती हो गई थी। सलीम कवि था। अमरकान्त उसकी गजलें बड़े चाव से सुनता था। मैत्री का यह एक और कारण था।

सलीम ने बाहर जाकर इधर-उधर निगाह दौड़ाई, अमरकान्त का कहीं पता न था। जरा और आगे बढ़े, तो देखा, वह एक वृक्ष की आड़ में खड़ा है। पुकारा-अमरकान्त ओ बुध्दू लाल चलो, फीस जमा कर। पंडितजी बिगड़ रहे हैं।

अमरकान्त ने अचकन के दामन से आंखें पोंछ लीं और सलीम की तरफ आता हुआ बोला-क्या मेरा नंबर आ गया?

सलीम ने उसके मुंह की तरफ देखा, तो उसकी आंखें लाल थीं। वह अपने जीवन में शायद ही कभी रोया हो चौंककर बोला-अरे तुम रो रहे हो क्या बात है-

अमरकान्त सांवले रंग का, छोटा-सा दुबला-पतला कुमार था। अवस्था बीस की हो गई थी पर अभी मसं भी न भीगी थीं। चौदह-पंद्रह साल का किशोर-सा लगता था। उसके मुख पर एक वेदनामय दृढ़ता, जो निराशा से बहुत कुछ मिलती-जुलती थी, अंकित हो रही थी, मानो संसार में उसका कोई नहीं है। इसके साथ ही उसकी मुद्रा पर कुछ ऐसी प्रतिभा, कुछ ऐसी मनस्विता थी कि एक बार उसे देखकर फिर भूल जाना कठिन था।

उसने मुस्कराकर कहा-कुछ नहीं जी, रोता कौन है-

'आप रोते हैं, और कौन रोता है। सच बताओ क्या हुआ?'

अमरकान्त की आंखें फिर भर आईं। लाख यत्न करने पर भी आंसू न रूक सके। सलीम समझ गया। उसका हाथ पकड़कर बोला-क्या फीस के लिए रो रहे हो- भले आदमी, मुझसे क्यों न कह दिया- तुम मुझे भी गैर समझते हो। कसम खुदा की, बड़े नालायक आदमी हो तुम। ऐसे आदमी को गोली मार देनी चाहिए दोस्तों से भी यह गैरियत चलो क्लास में, मैं फीस दिए देता हूं। जरा-सी बात के लिए घंटे-भर से रो रहे हो। वह तो कहो मैं आ गया, नहीं तो आज जनाब का नाम ही कट गया होता।

अमरकान्त को तसल्ली तो हुई पर अनुग्रह के बोझ से उसकी गर्दन दब गई। बोला -पंडितजी आज मान न जाएंगे?

सलीम ने खड़े होकर कहा-पंडितजी के बस की बात थोड़े ही है। यही सरकारी कायदा है। मगर हो तुम बड़े शैतान, वह तो खैरियत हो गई, मैं रुपये लेता आया था, नहीं खूब इस्तहान देते। देखो, आज एक ताजा गजल कही है। पीठ सहला देना :

आपको मेरी वफा याद आई,

खैर है आज यह क्या याद आई।

अमरकान्त का व्यथित चित्त इस समय गजल सुनने को तैयार न था पर सुने बगैर काम भी तो नहीं चल सकता। बोला-नाजुक चीज है। खूब कहा है। मैं तुम्हारी जबान की सफाई पर जान देता हूँ।

सलीम-यही तो खास बात है, भाई साहब लफ्जों की झंकार का नाम गजल नहीं है। दूसरा शेर सुनो :

फिर मेरे सीने में एक हूक उठी,

फिर मुझे तेरी अदा याद आई।

अमरकान्त ने फिर तारीफ की-लाजवाब चीज है। कैसे तुम्हें ऐसे शेर सूझ जाते हैं-

सलीम हंसा-उसी तरह, जैसे तुम्हें हिसाब और मजमून सूझ जाते हैं। जैसे एसोसिएशन में स्पीचें दे लेते हो। आओ, पान खाते चलें।

दोनों दोस्तों ने पान खाए और स्कूल की तरफ चले। अमरकान्त ने कहा-पंडितजी बड़ी डांट बताएंगे।

'फीस ही तो लेंगे'

'और जो पूछें, अब तक कहां थे?'

'कह देना, फीस लाना भूल गया था।'

'मुझसे न कहते बनेगा। मैं साफ-साफ कह दूंगा।'

तो तुम पिटोगे भी मेरे हाथ से'

संध्या समय जब छुट्टी हुई और दोनों मित्र घर चले, अमरकान्त ने कहा-तुमने आज मुझ पर जो एहसान किया है...

सलीम ने उसके मुंह पर हाथ रखकर कहा-बस खबरदार, जो मुंह से एक आवाज भी निकाली। कभी भूलकर भी इसका जिक् न करना।

'आज जलसे में आओगे?'

'मजमून क्या है, मुझे तो याद नहीं?'

'अजी वही पश्चिमी सभ्यता है।'

'तो मुझे दो-चार प्वाइंट बता दो, नहीं तो मैं वहां कहूंगा क्या?'

'बताना क्या है- पश्चिमी सभ्यता की बुराइयां हम सब जानते ही हैं। वही बयान कर देना।'

'तुम जानते होगे, मुझे तो एक भी नहीं मालूम।'

'एक तो यह तालीम ही है। जहां देखो वहीं दूकानदारी। अदालत की दूकान, इल्म की दूकान, सेहत की दूकान। इस एक प्वाइंट पर बहुत कुछ कहा जा सकता है।'

'अच्छी बात है, आऊंगा।'

दो

अमरकान्त के पिता लाला समरकान्त बड़े उद्योगी पुरुष थे। उनके पिता केवल एक झोंपड़ी छोड़कर मरे थे मगर समरकान्त ने अपने बाहुबल से लाखों की संपत्ति जमा कर ली थी। पहले उनकी एक छोटी-सी हल्दी की आदत थी। हल्दी से गुड़ और चावल की बारी आई। तीन बरस तक लगातार उनके व्यापार का क्षेत्र बढ़ता ही गया। अब आदतें बंद कर दी थीं। केवल लेन-देन करते थे। जिसे कोई महाजन रुपये न दे, उसे वह बेखटके दे देते और वसूल भी कर लेते उन्हें आश्चर्य होता था कि किसी के रुपये मारे कैसे जाते हैं- ऐसा मेहनती आदमी भी कम होगा। घड़ी रात रहे गंगा-स्नान करने चले जाते और सूर्योदय के पहले विश्वनाथजी के दर्शन करके दूकान पर पहुंच जाते। वहां मुनीम को जरूरी काम समझाकर तगादे पर निकल जाते और तीसरे पहर लौटते। भोजन करके फिर दूकान आ जाते और आधी रात तक डटे रहते। थे भी भीमकाया। भोजन तो एक ही बार करते थे, पर खूब डटकर। दो-ढाई सौ मुगदर के हाथ अभी तक फेरते थे। अमरकान्त की माता का उसके बचपन ही में देहांत हो गया था। समरकान्त ने मित्रों के कहने-सुनने से दूसरा विवाह कर लिया था। उस सात साल के बालक ने नई मां का बड़े प्रेम से स्वागत किया लेकिन उसे जल्द मालूम हो गया कि उसकी नई माता उसकी जिद और शरारतों को उस क्षमा-दृष्टि से नहीं देखतीं, जैसे उसकी मां देखती थीं। वह अपनी मां का अकेला लाड़ला लड़का था, बड़ा जिद दी, बड़ा नटखट। जो बात मुंह से निकल जाती, उसे पूरा करके ही छोड़ता। नई माताजी बात-बात पर डांटती थीं। यहां तक कि उसे माता से द्वेष हो गया। जिस बात को वह मना करतीं, उसे वह अदबदाकर करता। पिता से भी ढीठ हो गया। पिता और पुत्र में स्नेह का बंधन न रहा। लालाजी जो काम करते, बेटे को उससे अरुचि होती। वह मलाई के प्रेमी थे बेटे को मलाई से अरुचि थी। वह पूजा-पाठ बहुत करते थे, लड़का इसे ढोंग समझता था। वह पहले सिर के लोभी थे लड़का पैसे को ठीकरा समझता था।

मगर कभी-कभी बुराई से भलाई पैदा हो जाती है। पुत्र सामान्य रीति से पिता का अनुगामी होता है। महाजन का बेटा महाजन, पंडित का पंडित, वकील का वकील, किसान का किसान होता है मगर यहां इस द्वेष ने महाजन के पुत्र को महाजन का शत्रु बना दिया। जिस बात का पिता ने विरोध किया, वह पुत्र के लिए मान्य हो गई, और जिसको सराहा, वह त्याज्य। महाजनी के हथकंडे और षडयंत्र उसके सामने रोज ही रचे जाते थे। उसे इस व्यापार से घृणा होती थी। इसे चाहे पूर्व संस्कार कह लो पर हम तो यही कहेंगे कि अमरकान्त के चरित्र का निर्माण पिता-द्वेष के हाथों हुआ।

खैरियत यह हुई कि उसके कोई सौतेला भाई न हुआ। नहीं शायद वह घर से निकल गया होता। समरकान्त अपनी संपत्ति को पुत्र से ज्यादा मूल्यवान समझते थे। पुत्र के लिए तो संपत्ति की कोई जरूरत न थी पर संपत्ति के लिए पुत्र की जरूरत थी। विमाता की तो इच्छा यही थी कि उसे वनवास देकर अपनी चहेती नैना के लिए रास्ता साफ कर दे पर समरकान्त इस विषय में निश्चल रहे। मजा यह था कि नैना स्वयं भाई से प्रेम करती थी, और अमरकान्त के हृदय में अगर घर वालों के लिए कहीं कोमल स्थान था, तो वह नैना के लिए था। नैना की सूरत भाई से इतनी मिलती-जुलती थी, जैसे सगी बहन हो। इस अनुरूपता ने उसे अमरकान्त के और भी समीप कर दिया था। माता-पिता के इस दुर्बव्यहवार को वह इस स्नेह के नशे में भुला दिया करता था। घर में कोई बालक न था और नैना के लिए किसी साथी का होना अनिवार्य था। माता चाहती थीं, नैना भाई से दूर-दूर रहे। वह अमरकान्त को इस योग्य न समझती थीं कि वह उनकी बेटा के साथ खेले। नैना की बाल-प्रकृति इस कूटनीति के झुकाए न झुकी। भाई-बहन में यह स्नेह यहां तक बढ़ा कि अंत में विमातृत्व ने मातृत्व को भी परास्त कर दिया।

विमाता ने नैना को भी आंखों से गिरा दिया और पुत्र की कामना लिए संसार से विदा हो गई।

अब नैना घर में अकेली रह गई। समरकान्त बाल-विवाह की बुराइयां समझते थे। अपना विवाह भी न कर सके। वृद्ध-विवाह की बुराइयां भी समझते थे। अमरकान्त का विवाह करना जरूरी हो गया। अब इस प्रस्ताव का विरोध कौन करता-

अमरकान्त की अवस्था उन्नीस साल से कम न थी पर देह और बुद्धि को देखते हुए, अभी किशोरावस्था ही में था। देह का दुर्बल, बुद्धि का मंद। पौधे को कभी मुक्त प्रकाश न मिला, कैसे बढ़ता, कैसे फैलता- बढ़ने और फैलने के दिन कुसंगति और असंयम में निकल गए। दस साल पढ़ते हो गए थे और अभी ज्यों-त्यों आठवें में पहुंचा था। किंतु विवाह के लिए यह बातें नहीं देखी जातीं। देखा जाता है धान, विशेषकर उस बिरादरी में, जिसका उ? म ही व्यवसाय हो। लखनऊ के एक धानी परिवार से बातचीत चल पड़ी। समरकान्त की तो लार टपक पड़ी। कन्या के घर में विधावा माता के सिवा निकट का कोई संबंधी न था, और धान की कहीं थाह नहीं। ऐसी कन्या बड़े भागों से मिलती है। उसकी माता ने बेटे की साधा बेटी से पूरी की थी। त्याग की जगह भोग, शील की जगह तेज, कोमल की जगह तीव्र का संस्कार किया था। सिकुड़ने और सिमटने का उसे अभ्यास न था। और वह युवक-प्रकृति की युवती ब्याही गई युवती-प्रकृति के युवक से, जिसमें पुरुषार्थ का कोई गुण नहीं। अगर दोनों के कपड़े बदल दिए जाते, तो एक-दूसरे के स्थानापन्न हो जाते। दबा हुआ पुरुषार्थ ही स्त्रीत्व है।

विवाह हुए दो साल हो चुके थे पर दोनों में कोई सामंजस्य न था। दोनों अपने-अपने मार्ग पर चले जाते थे। दोनों के विचार अलग, व्यवहार अलग, संसार अलग। जैसे दो भिन्न जलवायु के जंतु एक पिंजरे में बंद कर दिए गए हों। हां, तभी अमरकान्त के जीवन में संयम और प्रयास की लगन पैदा हो गई थी। उसकी प्रकृति में जो ढीलापन, निर्जीवता और संकोच था वह कोमलता के रूप में बदलता जाता था। विद्याभ्यास में उसे अब रुचि हो गई थी। हालांकि लालाजी अब उसे घर के धंधों में लगाना चाहते थे-वह तार-वार पढ़ लेता था और इससे अधिक योग्यता की उनकी समझ में जरूरत न थी-पर अमरकान्त उस पथिक की भांति, जिसने दिन विश्राम में काट दिया हो, अब अपने स्थान पर पहुंचने के लिए दूने वेग से कदम बढ़ाए चला जाता था।

तीन

स्कूल से लौटकर अमरकान्त नियमानुसार अपनी छोटी कोठरी में जाकर चरखे पर बैठ गया। उस विशाल भवन में, जहां बारात ठहर सकती थी, उसने अपने लिए यही छोटी-सी कोठरी पसंद की थी। इधर कई महीने से उसने दो घंटे रोज सूत कातने की प्रतिज्ञा कर ली थी और पिता के विरोध करने पर भी उसे निभाए जाता था।

मकान था तो बहुत बड़ा मगर निवासियों की रक्षा के लिए उतना उपयुक्त न था, जितना धान की रक्षा के लिए। नीचे के तल्ले में कई बड़े-बड़े कमरे थे, जो गोदाम के लिए बहुत अनुकूल थे। हवा और प्रकाश का कहीं रास्ता नहीं। जिस रास्ते से हवा और प्रकाश आ सकता है, उसी रास्ते से चोर भी तो आ सकता है। चोर की शंका उसकी एक-एक ईंट से टपकती थी। ऊपर के दोनों तल्ले हवादार और खुले हुए थे। भोजन नीचे बनता था। सोना-बैठना ऊपर होता था। सामने सड़क पर दो कमरे थे। एक में लालाजी बैठते थे, दूसरे में मुनीम। कमरों के आगे एक सायबान था, जिसमें गाय बंधाती थी। लालाजी पक्के गोभक्त थे।

अमरकान्त सूत कातने में मग्न था कि उसकी छोटी बहन नैना आकर बोली-क्या हुआ भैया, फीस जमा हुई या नहीं- मेरे पास बीस रुपये हैं, यह ले लो। मैं कल और किसी से मांग लाऊंगी।

अमर ने चरखा चलाते हुए कहा-आज ही तो फीस जमा करने की तारीख थी। नाम कट गया। अब रुपये लेकर क्या करूंगा-

नैना रूप-रंग में अपने भाई से इतनी मिलती थी कि अमरकान्त उसकी साड़ी पहन लेता, तो यह बतलाना मुश्किल हो जाता कि कौन यह है कौन वह हां, इतना अंतर अवश्य था कि भाई की दुर्बलता यहां सुकुमारता बनकर आकर्षक हो गई थी।

अमर ने दिल्लगी की थी पर नैना के चेहरे रंग उड़ गया। बोली-तुमने कहा नहीं, नाम न काटो, मैं दो-एक दिन में दे दूंगा-

अमर ने उसकी घबराहट का आनंद उठाते हुए कहा-कहने को तो मैंने सब कुछ कहा लेकिन सुनता कौन था-

नैना ने रोष के भाव से कहा-मैं तो तुम्हें अपने कड़े दे रही थी, क्यों नहीं लिए-

अमर ने हंसकर पूछा-और जो दादा पूछते, तो क्या होता-

'दादा से बतलाती ही क्यों?'

अमर ने मुंह लंबा करके कहा-मैं चोरी से कोई काम नहीं करना चाहता, नैना अब खुश हो जाओ, मैंने फीस जमा कर दी।

नैना को विश्वास न आया, बोली-फीस नहीं, वह जमा कर दी। तुम्हारे पास रुपये कहां थे?'

'नहीं नैना, सच कहता हूं, जमा कर दी।'

'रुपये कहां थे?'

'एक दोस्त से ले लिए।'

'तुमने मांगे कैसे?'

'उसने आप-ही-आप दे दिए, मुझे मांगने न पड़े।'

'कोई बड़ा सज्जन होगा।'

'हां, है तो सज्जन, नैना जब फीस जमा होने लगी तो मैं मारे शर्म के बाहर चला गया। न जाने क्यों उस वक्त मुझे रोना आ गया। सोचता था, मैं ऐसा गया-बीता हूं कि मेरे पास चालीस रुपये नहीं। वह मित्र जरा देर में मुझे बुलाने आया। मेरी आंखें लाल थीं। समझ गया। तुरंत जाकर फीस जमा कर दी। तुमने कहां पाए ये बीस रुपये?'

'यह न बताऊंगी।'

नैना ने भाग जाना चाहा। बारह बरस की यह लज्जाशील बालिका एक साथ ही सरल भी थी और चतुर भी। उसे ठफना सहज न था। उससे अपनी चिंताओं को छिपाना कठिन था।

अमर ने लपककर उसका हाथ पकड़ लिया और बोला-जब तक बताओगी नहीं, मैं जाने न दूंगा। किसी से कहूंगा नहीं, सच कहता हूं।

नैना झेंपती हुई बोली-दादा से लिए।

अमरकान्त ने बेदिली के साथ कहा-तुमने उनसे नाहक मांगे, नैना जब उन्होंने मुझे इतनी निर्दयता से दुत्कार दिया, तो मैं नहीं चाहता कि उनसे एक पैसा भी मांगूं। मैंने तो समझा था, तुम्हारे पास कहीं पड़े होंगे अगर मैं जानता कि तुम भी दादा से ही मांगोगी तो साफ कह देता, मुझे रुपये की जरूरत नहीं। दादा क्या बोले-

नैना सजल नेत्र होकर बोली-बोले तो नहीं। यही कहते रहे कि करना-धारना तो कुछ नहीं, रोज रुपये चाहिए, कभी फीस कभी किताब कभी चंदा। फिर मुनीमजी से कहा, बीस रुपये दे दो। बीस रुपये फिर देना।

अमर ने उत्तोजित होकर कहा-तुम रुपये लौटा देना, मुझे नहीं चाहिए।

नैना सिसक-सिसककर रोने लगी। अमरकान्त ने रुपये जमीन पर फेंक दिए थे और वह सारी कोठरी में बिखरे पड़े थे। दोनों में से एक भी चुनने का नाम न लेता था। सहसा लाला समरकान्त आकर द्वार पर खड़े हो गए। नैना की सिसकियां बंद हो गईं और अमरकान्त मानो तलवार की चोट खाने के लिए अपने मन को तैयार करने लगा। लाला जो दोहरे बदन के दीर्घकाय मनुष्य थे। सिर से पांच तक सेठ-वही खलवाट मस्तक, वही फूले हुए कपोल, वही निकली हुई तोंद। मुख पर संयम का तेज था, जिसमें स्वार्थ की गहरी झलक मिली हुई थी। कठोर स्वर में बोले-चरखा चला रहा है। इतनी देर में कितना सूत काता- होगा दो-चार रुपये का-

अमरकान्त ने गर्व से कहा-चरखा रुपये के लिए नहीं चलाया जाता।

'और किसलिए चलाया जाता है।'

'यह आत्म-शुद्धि का एक साधन है।'

समरकान्त के घाव पर जैसे नमक पड़ गया। बोले-यह आज नई बात मालूम हुई। तब तो तुम्हारे ऋषि होने में कोई संदेह नहीं रहा, मगर साधन के साथ कुछ घर-गृहस्थी का काम भी देखना होता है। दिन-भर स्कूल में रहो, वहां से लौटो तो चरखे पर बैठो, रात को तुम्हारी स्त्री-पाठशाला खुले, संध्या समय जलसे हों, तो घर का

धंधा कौन करे- मैं बैल नहीं हूं। तुम्हीं लोगों के लिए इस जंजाल में फंसा हुआ हूं। अपने ऊपर लाद न ले जाऊंगा। तुम्हें कुछ तो मेरी मदद करनी चाहिए। बड़े नीतिवान बनते हो, क्या यह नीति है कि बूढ़ा बाप मरा करे और जवान बेटा उसकी बात भी न पूछे-

अमरकान्त ने उदड़ता से कहा-मैं तो आपसे बार-बार कह चुका, आप मेरे लिए कुछ न करें। मुझे धान की जरूरत नहीं। आपकी भी वृद्धावस्था है। शांतचित्त होकर भगवत्-भजन कीजिए।

समरकान्त तीखे शब्दों में बोले-धान न रहेगा लाला, तो भीख मांगोगे। यों चैन से बैठकर चरखा न चलाओगे। यह तो न होगा, मेरी कुछ मदद करो, पुरुषार्थहीन मनुष्यों की तरह कहने लगे, मुझे धान की जरूरत नहीं। कौन है, जिसे धान की जरूरत नहीं- साधु-संन्यासी तक तो पैसों पर प्राण देते हैं। धान बड़े पुरुषार्थ से मिलता है। जिसमें पुरुषार्थ नहीं, वह क्या धान कमाएगा- बड़े-बड़े तो धान की उपेक्षा कर ही नहीं सकते, तुम किस खेत की मूली हो

अमर ने उसी वितंडा भाव से कहा-संसार धान के लिए प्राण दे, मुझे धन की इच्छा नहीं। एक मजूर भी धर्म और आत्मा की रक्षा करते हुए जीवन का निर्वाह कर सकता है। कम-से-कम मैं अपने जीवन में इसकी परीक्षा करना चाहता हूं।

लालाजी को वाद-विवाद का अवकाश न था। हारकर बोले-अच्छा बाबा, कर लो खूब जी भरकर परीक्षा लेकिन रोज-रोज रुपये के लिए मेरा सिर न खाया करो। मैं अपनी गाड़ी कमाई तुम्हारे व्यसन के लिए नहीं लुटाना चाहता।

लालाजी चले गए। नैना कहीं एकांत में जाकर खूब रोना चाहती थी पर हिल न सकती थी और अमरकान्त ऐसा विरक्त हो रहा था, मानो जीवन उसे भार हो रहा है।

उसी वक्त महरी ने ऊपर से आकर कहा-भैया, तुम्हें बहूजी बुला रही हैं।

अमरकान्त ने बिगड़कर कहा-जा कह दे, फुर्सत नहीं है। चली वहां से-बहूजी बुला रही हैं।

लेकिन जब महरी लौटने लगी, तो उसने अपने तीखेपन पर लज्जित होकर कहा-मैंने तुम्हें कुछ नहीं कहा है सिल्लो कह दो, अभी आता हूं। तुम्हारी रानीजी क्या कर रही हैं-

सिल्लो का पूरा नाम था कौशल्या। सीतला में पति, पुत्र और एक आंख जाती रही थी, तब से विक्षिप्त-सी हो गई थी। रोने की बात पर हंसती, हंसने की बात पर रोती। घर के और सभी प्राणी, यहां तक की नौकर-चाकर तक उसे डांटते रहते थे। केवल अमरकान्त उसे मनुष्य समझता था। कुछ स्वस्थ होकर बोली-बैठी कुछ लिख रही हैं। लालाजी चीखते थे इसी से तुम्हें बुला भेजा।

अमर जैसे गिर पड़ने के बाद गर्द झाड़ता हुआ, प्रसन्न मुख ऊपर चला। सुखदा अपने कमरे के द्वार पर खड़ी थी। बोली-तुम्हारे तो दर्शन ही दुर्लभ हो जाते हैं। स्कूल से आकर चरखा ले बैठते हो। क्यों नहीं मुझे घर भेज देते- जब मेरी जरूरत समझना, बुला भेजना। अबकी आए मुझे छः महीने हुए। मीयाद पूरी हो गई। अब तो रिहाई हो जानी चाहिए।

यह कहते हुए उसने एक तश्तरी में कुछ नमकीन और कुछ मिठाई लाकर मेज पर रख दी और अमर का हाथ पकड़ कर कमरे में ले जाकर कुरसी पर बैठा दिया।

यह कमरा और सब कमरों से बड़ा, हवादार और सुसज्जित था। दरी का गर्श था, उस पर करीने से कई गद्ददार और सादी कुरसियां लगी हुई थीं। बीच में एक छोटी-सी नक्काशीदार गोल मेज थी। शीशे की आल्मारियों में सजिल्द पुस्तकें सजी हुई थीं। आलों पर तरह-तरह के खिलौने रखे हुए थे। एक कोने में मेज पर हारमोनियम रखा हुआ था। दीवारों पर धुरंधर, रवि वर्मा और कई चित्रकारों की तस्वीरें शोभा दे रही थीं। दो-तीन पुराने चित्र भी थे। कमरे की सजावट से सुरुचि और संपन्नता का आभास होता था।

अमरकान्त का सुखदा से विवाह हुए दो साल हो चुके थे। सुखदा दो बार तो एक-एक महीना रहकर चली गई थी। अबकी उसे आए छः महीने हो गए थे मगर उनका स्नेह अभी तक ऊपर-ही-ऊपर था। गहराइयों में दोनों एक-दूसरे से अलग-अलग थे। सुखदा ने कभी अभाव न जाना था, जीवन की कठिनाइयां न सही थीं। वह जाने-माने मार्ग को छोड़कर अनजान रास्ते पर पांव रखते डरती थी। भोग और विलास को वह जीवन की सबसे मूल्यवान वस्तु समझती थी और उसे हृदय से लगाए रहना चाहती थी। अमरकान्त को वह घर के कामकाज की ओर खींचने का प्रयास करती रहती थी। कभी समझाती थी, कभी रूठती थी, कभी बिगड़ती थी। सास के न रहने से वह एक प्रकार से घर की स्वामिनी हो गई थी। बाहर के स्वामी लाला अमरकान्त थे पर भीतर का संचालन सुखदा ही के हाथों में था। किंतु अमरकान्त उसकी बातों को हंसी में टाल देता। उस पर अपना प्रभाव डालने की कभी चेष्टा न करता। उसकी विलासप्रियता मानो खेतों में हौवे की भांति उसे डराती रहती थी। खेत में हरियाली थी, दाने थे, लेकिन वह हौवा निश्चल भाव से दोनों हाथ फैलाए खड़ा उसकी ओर घूरता रहता था। अपनी आशा और दुराशा, हार और जीत को वह सुखदा से बुराई की भांति छिपाता था। कभी-कभी उसे घर लौटने में देर हो जाती, तो सुखदा व्यंग्य करने से बाज न आती थी-हां, यहां कौन अपना बैठा हुआ है बाहर के मजे घर में कहां और यह तिरस्कार, किसान की कड़े-कड़े की भांति हौवे के भय को और भी उत्तोजित कर देती थी। वह उसकी खुशामद करता, अपने सिद्धांतों को लंबी-से-लंबी रस्सी देता पर सुखदा इसे उसकी दुर्बलता समझकर ठुकरा देती थी। वह पति को दया-भाव से देखती थी, उसकी त्यागमयी प्रवृत्ति का अनादर न करती थी पर इसका तथ्य न समझ सकती थी। वह अगर सहानुभूति की भिक्षा मांगता, उसके सहयोग के लिए हाथ फैलाता, तो शायद वह उसकी उपेक्षा न करती। अपनी मुठ्ठी बंद करके, अपनी मिठाई आप खाकर, वह उसे रूला देता। वह भी अपनी मुठ्ठी बंद कर लेती थी और अपनी मिठाई आप खाती थी। दोनों आपस में हंसते-बोलते थे, साहित्य और इतिहास की चर्चा करते थे लेकिन जीवन के गूढ़ व्यापारों में पृथक् थे। दूध और पानी का मेल नहीं, रेत और पानी का मेल था जो एक क्षण के लिए मिलकर पृथक् हो जाता था।

अमर ने इस शिकायत की कोमलता या तो समझी नहीं, या समझकर उसका रस न ले सका। लालाजी ने जो आघात किया था, अभी उसकी आत्मा उस वेदना से तड़प रही थी। बोला-मैं भी यही उचित समझता हूं। अब मुझे पढ़ना छोड़कर जीविका की फिक्र करनी पड़ेगी।

सुखदा ने खीझकर कहा-हां, ज्यादा पढ़ लेने से सुनती हूं, आदमी पागल हो जाता है।

अमर ने लड़ने के लिए यहां भी आस्तीनें चढ़ा लीं-तुम यह आक्षेप व्यर्थ कर रही हो। पढ़ने से मैं जी नहीं चुराता लेकिन इस दशा में पढ़ना नहीं हो सकता। आज स्कूल में मुझे जितना लज्जित होना पड़ा, वह मैं ही जानता हूं। अपनी आत्मा की हत्या करके पढ़ने से भूखा रहना कहीं अच्छा है।

सुखदा ने भी अपने शस्त्र संभाले। बोली-मैं तो समझती हूं कि घड़ी-दो घड़ी दूकान पर बैठकर भी आदमी बहुत कुछ पढ़ सकता है। चरखे और जलसों में जो समय देते हो, वह दूकान पर दो, तो कोई बुराई न होगी। फिर